विज्ञान, विज्ञान–शिक्षा और समानता : कुछ प्रश्न दार्शनिक बहसों के हवाले से

– लल्लन सिंह बघेल

यह पर्चा ज्ञान मीमांसा की दृष्टियों के तहत विज्ञान के कार्य करने के ढंग को व उसके इन्सान व समाज के साथ रिश्ते को समझने का प्रयास करता है। इस पर्चे में विभिन्न दार्शनिक बहसों के सन्दर्भ में यह सवाल उठाया है कि क्या विज्ञान के विकास को पूँजीवाद से पूरी तरह से अलग किया जा सकता है? या क्या हम कह सकते हैं कि असल में विज्ञान की प्रकृति ही है जो तकनीकी के ज्ञान के माध्यम से पूँजीवाद का निर्माण करती है? लेखक विज्ञान और मुक्ति व तकनीकी और पूँजीवाद के बीच के द्वन्द्वात्मक रिश्ते को भी उकेरते हैं। वे कहते हैं कि विज्ञान मुक्तिवाहक भी है पर साथ ही यह पूँजीवादी तार्किकता को भी सम्बलित करता है।

भारत में अन्धविश्वास व रुढ़िवादिता के विरुद्ध संघर्ष में प्रायः विज्ञान से उम्मीद लगायी जाती है। वहीं कई बार विज्ञान के चारों तरफ़ एक ऐसा प्रभामण्डल स्थापित कर दिया जाता है कि विज्ञान की किसी भी भूमिका पर प्रश्न उठाना तक कठिन हो जाता है। विज्ञान को इतिहास व सामाजिक सन्दर्भों से मुक्त एक अन्तिम, निश्चित ज्ञान की तरह भी प्रस्तुत किया जाता है। अतः शिक्षा से सम्बन्धित लोगों के लिए यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान और विज्ञान की शिक्षा का राजनीतिक व सामाजिक इतिहास से क्या सम्बन्ध है। इस बारे में अकादमिक और ग़ैर–अकादमिक बहसों में कई आयाम खुलते रहे हैं।

यह लेख मुख्य रूप से तीन व्यापक प्रश्नों को उठाता है और उनके उत्तर ढूँढने की दिशा में कुछ दूर तक आगे बढ़ता है।

- पहला प्रश्न है कि विज्ञान और समाज के बीच क्या रिश्ते हैं?
- दूसरा प्रश्न है कि क्या विज्ञान का ज्ञान सामाजिक परिवर्तन में कोई भूमिका निभाता है और कौन–सी?

- तीसरा प्रश्न है कि विज्ञान मुक्तिकामी है या फिर यह एक नयी तरह की दासता तैयार करता है?

यह तीन प्रश्न बहुत सारे दूसरे प्रश्नों को भी जन्म देते हैं और यह सभी प्रश्न एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक का उत्तर पाने की चेष्टा में अक्सर हम दूसरे प्रश्न तक पहुँच सकते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर कई बार हमें इतिहास व दर्शन के सघन विचार–विमर्शों के बीच भी ले जायेंगे, मगर हमारे पास उत्तरों की खोज में विज्ञान और विज्ञान के दर्शन के इतिहास की भूलभुलैया में भटकने के अलावा कोई चारा भी नहीं है।

हम में से बहुत–से लोग यह चाहते हैं कि विज्ञान, शास्त्रीय बहसों और प्रयोगशालाओं तक सीमित न रहे, बल्कि हम विज्ञान एवं समाज में व्याप्त जटिलताओं का पुनर्पाठ कर सकें। हम विज्ञान की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए उसे संविधान एवं समाज से और मुक्ति एवं समानता के सवालों से जोड़ सकें। इसके लिए हमें आधुनिकता के विमर्शों की चर्चा भी करनी होगी।

लेख की शुरुआत में हम यह देखने की कोशिश कर रहे हैं कि विज्ञान कैसे शिक्षा के या शिक्षा से जुड़े हुए सवालों को व्यापक रूप से देखने की दृष्टि प्रदान करता है। यहाँ शुरुआत हम प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूई (1938–1997) की पुस्तक *अनुभव और शिक्षा* में व्यक्त विचार से करते हैं, जहाँ वे कहते हैं कि "विज्ञान निश्चित रूप से समाज के राजनीतिक एवं सामाजिक ताने–बाने को लोकतान्त्रिक बनाता है।"

ड्यूई इस सवाल का सकारात्मक जवाब देते हैं कि क्या प्राकृतिक विज्ञान की व्यापक समझ किसी भी समाज को बेहतर बनाने या नयी नैतिक व्यवस्था बनाने में मदद करती है। क्या इसी सवाल को हम इस तरह पूछ सकते हैं कि विज्ञान व प्राकृतिक विज्ञान की ज्ञानमीमांसा समाज को आगे ले जाने में सहायक बनती है या नहीं।

विज्ञान के लोकतान्त्रिक दावे की पड़ताल करने के लिए हम दर्शन व विज्ञान के इतिहास के तीन तहखानों में दाख़िल होंगे। सबसे पहले हम अरस्तू व डेमोक्रिटस, फिर बेकन व देकार्त और साथ ही न्यूटन व कांट और अन्त में अडूर्नू व हेबरमास जैसे हाल ही के आधुनिक विचारकों की बात करेंगे।

विज्ञान के प्रति नज़रिया व ग्रीक चिन्तन

ग्रीक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक डेमोक्रिटस संसार व प्रकृति के रहस्यों को पदार्थवाद के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं। इसका सन्दर्भ उनके लेखों से संग्रहित पुस्तक *डेमोक्रिटस : साइंस, दि आर्ट्स एण्ड दि केयर ऑफ़ दि सोल* में देखने को मिलता है। डेमोक्रिटस बताते हैं कि किसी भी ज्ञान को, वह चाहे प्रकृति का हो या समाज का, पदार्थवाद एवं अनुभव से ही समझा जा सकता है और समाज की संरचना एवं विकास वैज्ञानिक पदार्थवाद के माध्यम से ही होता है।

डेमोक्रिटस के इस वाक्य की सत्यता की जाँच करने के लिए अरस्तू इसको कार्य–कारण के सिद्धान्त के माध्यम से अपने दर्शन में स्पष्ट करते हैं। अरस्तू इस बात को आगे बढ़ाते हुए बताते हैं कि प्रकृति–विज्ञान का ज्ञान एक व्यापक एवं तार्किक विश्वदृष्टि प्रदान करता है, जिससे समाज को समझा जा सकता है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक *मेटाफिजिक्स* में ऑर्गनान के माध्यम से यह बात की है। कुछ समसामयिक विद्वान अरस्तू की इस व्याख्या को एक तरह का पाण्डित्यवाद या स्कॉलेस्टिसिज़्म कहते हैं, क्योंकि यह ग़ैर–समावेशी ज्ञान का निष्पादन करता है।

अतः क्या हम अरस्तू और डेमोक्रिटस को बेहतर सामाजिक व्यवस्था सम्भव करने वाली मुक्ति का प्रणेता माने या फिर पाण्डित्यवाद से ग्रस्त माने? अरस्तू प्रकृति, विज्ञान और मानविकी के अन्तर्सम्बन्धों को मूलतः ज्ञानात्मक उद्देश्यों के मार्फ़त समझने पर ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार विज्ञान मूलतः मुक्ति का वाहक है। इस बात में किस हद तक सत्यांश है, इस पर दार्शनिकों और समाज वैज्ञानिकों में मतभेद है।

देकार्त एवं फ्रांसिस बेकन की ज्ञानात्मक एवं सामाजिक चेतना : कुछ सवाल

अब हम आधुनिक काल के फ्रांसिस बेकन एवं रेने देकार्त जैसे वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों की ज्ञानात्मक, सामाजिक तथा नैतिक प्रबोधन–दृष्टि को समझने की कोशिश करेंगे। दोनों दार्शनिकों की मूल दृष्टियों में अन्तर हैं, फिर भी दोनों ने समाज और विज्ञान के अन्तर्सम्बन्धों की विश्लेषणात्मक व्याख्या करते हुए विज्ञान को समाज का परिवर्तनकारी अग्रदूत बताया है। साथ ही, दोनों दार्शनिक समाज एवं विज्ञान के आपसी रिश्तों को अधिक संश्लेषणात्मक बनाते हैं।

बेकन व देकार्त और इनके परवर्ती विचारकों की दृष्टि की चर्चा विज्ञान व विज्ञान–शिक्षा के सन्दर्भ में करना बेहद ज़रूरी है। कुछ समसामयिक शिक्षाविदों की तरह ही मैं भी यह मानता हूँ कि आज की विज्ञान–शिक्षा के पठन–पाठन की जटिलताओं की जड़ें आधुनिकता व उससे उपजे पश्चिमी वर्चस्ववादी महावृतान्त में अन्तर्निहित हैं। इसलिए

सामाजिक ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से इस महावृतान्त के पुनर्पाठ या नये तरीक़े से इसकी व्याख्या की ज़रूरत है।

दोनों ही विचारकों एवं उनकी दार्शनिक विश्वदृष्टियों को समाज एवं शिक्षा के सन्दर्भ में आधुनिकता एवं प्रबोधन के अग्रदूत के रूप में देखा गया है। देकार्त की ज्ञानमीमांसीय विवेचना में चेतना, समाज और ज्ञान के बीच में अन्तर्सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध वैचारिक प्रणाली से समझा जा सकता है। हम विशेष रूप से पुस्तक *डिस्कोर्स ऑन मेथड* में व्यक्त देकार्त के विचारों पर बात करेंगे। इस पुस्तक में देकार्त ने ज्ञान को द्वैतवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वहीं ज्ञान, समाज एवं प्रकृति के बारे में ज्ञान को ले कर निश्चितता की बात भी की है, जो कि गणित एवं भौतिकी के द्वारा परिलक्षित होती है। इन विषयों के ज्ञान के माध्यम से समाज और समाज में व्यापक कोटियों की व्याख्या की जा सकती है।

मौजूदा परिचर्चा के सन्दर्भ में यह कहना ज़रूरी है कि ज्ञान, प्रकृति एवं समाज एक–दूसरे के पूरक हैं और विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान को हमेशा तार्किक बुद्धिवाद से नहीं जोड़ा जाना चाहिए। कई समकालीन समाज वैज्ञानिकों एवं शिक्षाविदों ने इसकी आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है और प्रत्यक्षवाद या पॉजिटिविज़्म के अग्रदूत माने जाने वाले देकार्त की दार्शनिक विज्ञान–पद्धति को एक तरह के पाण्डित्यवाद के रूप में देखा है।

वहीं दूसरी तरफ़, फ्रांसिस बेकन एक अन्य तरह के आनुभविक वैज्ञानिक दर्शन को आगे बढ़ाते हुए नज़र आते हैं। बेकन अपनी पुस्तक *दि न्यू ऑर्गनान* में कहते हैं कि ज्ञान को दो दृष्टिकोणों में देखा जा सकता है, एक मधुमक्खी (Bee) की दृष्टि है और दूसरी मकड़ी (spider) की दृष्टि है। जहाँ मकड़ी की दृष्टि केवल एक तरह के विचारों का जाल बुनती है और विचारों के माध्यम से समाज की एवं सामाजिक संस्थाओं की (रचनाओं की) व्याख्या करती है, वहीं मधुमक्खी अनुभव के आधार पर ज्ञान का निर्माण करते हुए समाज की एवं समाज में शक्ति–संरचना की व्याख्या करती है।

हम कह सकते हैं कि बेकन विज्ञान, विज्ञान–शिक्षा एवं समाज की एक नयी ज्ञानमीमांसा प्रदान करते हैं। बहुत–से उत्तर–संरचनावादियों ने बेकन की इस ज्ञानमीमांसा को अपने शोध का विषय बनाया है। ज्ञान एवं शक्ति के बीच क्या अन्तर्सम्बन्ध हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए बहुत–से विचारक अनुभवजनित ज्ञान को सार्वभौमिक तो मानते हैं, मगर वे किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता या निरपेक्षवाद का दावा नहीं करते।

बेकन की विज्ञान की दार्शनिक व्याख्याओं में से कुछ बातें इस परिचर्चा के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। वे मानते हैं कि विज्ञान व समाज के बारे में ज्ञान, शास्त्रीय होने की बजाय अनुभवजनित जटिलताओं को स्पष्ट करने वाला एवं प्रबोधन के विचारों को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिए। यह संगोष्ठी के प्रारूप में भी सुझाया गया है कि वैज्ञानिक चेतना एवं व्यवहार को ऐसा होना चाहिए कि वह समाज को विकासोन्मुख बनाये। साथ ही वह जटिलताओं को स्पष्ट करने में सहायक हो, ताकि विज्ञान पढ़ने वाला विद्यार्थी या शिक्षक दोनों के बीच के अन्तर्सम्बन्ध को समझते हुए इसको समाज से जोड़े।

सम्पादक मण्डल ने इस लेख के सम्बन्ध में एक सवाल उठाया है कि इतिहास का दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान के दर्शनशास्त्र का इतिहास कैसे एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं और इनका जुड़ाव अध्यापक एवं विद्यार्थी के बीच कैसे एक बेहतर संवाद बनाने में सहायक होता है। इस प्रश्न का अपरोक्ष जवाब ऐसे सोचा जा सकता है कि विज्ञान किस प्रकार एक नये तरीक़े का ज्ञान है जो कि केवल ज्ञानमीमांसा का सृजन ही नहीं करता, बल्कि प्रकृति के रहस्यों का अवलोकन करते हुए हमारे सामने एक व्यापक दृ ष्टिकोण भी रखता है। जिसके माध्यम से हम न केवल प्रकृति के बीच के नियमों को समझते हैं, बल्कि यह भी समझ पाते हैं कि सामाजिक ताने–बाने में किस प्रकार की ग़ैर–तार्किक प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। उदाहरण के रूप में गणेशजी दूध नहीं पीते, बल्कि उसके कुछ अन्य वैज्ञानिक कारण हैं। यहीं इस सवाल की चर्चा भी की जा सकती है कि दर्शन के ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी विचारों का विज्ञान की कक्षा के साथ क्या सम्बन्ध है और कोई शिक्षक अपनी कक्षा में पढ़ाते हुए इन विचारों को कैसे रोचक तरीक़े से जोड़ सकता है और विद्यार्थियों में सवाल खड़ा करने का ज़ज्बा पैदा कर सकता है?

इसी चर्चा के फ़लक को आगे बढ़ाते हुए न्यूटन एवं इमेनुयल कांट के विचारों की भी एक झलक ली जा सकती है। दोनों के विचारों में एक तरह की समानता है। एक तरफ़ न्यूटन प्रकृति के नियमों को व्याख्यायित करते हुए विज्ञान को सार्वभौमिक, तार्किक एवं ज्ञानात्मक बताते हैं, तो दूसरी तरफ़ कांट विचारों और नीति के सिद्धान्तों के माध्यम से समाज एवं सामाजिकता की सार्वभौमिकता की व्याख्या करते हैं। यहीं पर यह सवाल खड़ा हो जाता है कि क्या विज्ञान मुक्तिदायक ही है? यह भी कि क्या वैज्ञानिक तार्किकता और सामाजिक तार्किकता अलग–अलग हैं तथा दोनों के बीच में किस तरह का सम्बन्ध है? यदि दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं, तो यूरो–केन्द्रिकता और

ज्ञान के क्षेत्र में पश्चिम के वर्चस्ववाद के सिद्धान्त को कैसे समझें? इन प्रश्नों पर हम लेख के अगले भाग में चर्चा करने की कोशिश करेंगे।

वैज्ञानिक शिक्षा का सन्दर्भ : नव–मार्क्सवाद और मुक्ति के सवाल

आइए, अब हम विज्ञान के मुक्तिवाहक होने के दावे का आधुनिक विचारों के आलोक में एक परीक्षण करें। विज्ञान–शिक्षण एक ऐसी तार्किक शक्ति का निर्माण करता है जिसके माध्यम से न केवल प्रकृति के नियमों को समझा जाता है; बल्कि सामाजिक ताने–बाने में किस प्रकार तरह–तरह की ग़ैर–तार्किकताएँ मौजूद हैं, उनकी तरफ़ भी हमारा ध्यान खींचा जाता है। इस प्रकार हमारे सामने विज्ञान के मूल रूप से मुक्तिवाहक होने की तस्वीर उभरती है, मगर वहीं यह भी सच है कि जैसे ही विज्ञान तकनीकी के माध्यम से पूँजीवाद के संरक्षण में पलता–बढ़ता है; वह ग़ैर–बराबरी के समाज का निर्माण करता है, जिसे हम तकनीकी एवं उपकरणात्मक तार्किकता या इंस्ट्रूमेंटल रेशनलिटी के माध्यम से समझ सकते हैं।

इसलिए हम कह सकते हैं कि विज्ञान, तकनीकी विज्ञान एवं समाज विज्ञान के बीच में एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। एक तरफ़ विज्ञान या वैज्ञानिक ज्ञान मुक्तिवाहक जान पड़ता है, वहीं यह पूँजीवादी तार्किकता से भी जुड़ जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि विज्ञान का आधुनिकता तथा प्रबोधन के मूल्यों के साथ द्वन्द्वात्मक रिश्ता है। इन रिश्तों के माध्यम से ही विज्ञान एवं विज्ञान–शिक्षा को समझा जाना चाहिए। इस बात का विस्तार से विवरण हमें क्रिटिकल थ्योरी या नव–मार्क्सवाद के प्रमुख चिन्तकों में से एक हर्बर्ट मार्क्यूज़ की पुस्तक *वन डाइमेंशनल मैन* में देखने को मिलता है। इन सवालों की जाँच के लिए क्रिटिकल थ्योरी के दूसरे विचारक अडूर्नू की पुस्तक *एस्थेटाइसेशन ऑफ़ पोलिटिकल* का पुनर्पाठ भी किया जा सकता है। यह पुस्तक भी सवाल खड़ा करती है कि क्या विज्ञान मूलतः प्रतिक्रियावादी है और इसीलिए यह उपकरणात्मक तार्किकता एवं तकनीकी के माध्यम से एक साम्राज्यवादी व्यवस्था का गठन करता है।

इन प्रश्नों की जाँच के लिए हम हेबरमास की पुस्तक *दि स्ट्रक्चरल ट्रान्सफॉर्मेशन ऑफ़ दि पब्लिक स्फेयर* के हवाले से आधुनिकता एवं विज्ञान के रिश्तों को लोकतन्त्र और पूँजीवाद की अभिव्यंजना के माध्यम से भी देख सकते हैं। आधुनिकता, समावेशी होने का दावा करती है मगर पूँजीवाद और विज्ञान के गठजोड़ की विवशता के चलते अन्ततः ग़ैर–समावेशी साबित होती है। यह पुस्तक बताती है कि वंचित समुदाय के लोग हाशिये में रहते हैं और पूँजीवादी सार्वजनिक दायरा शक्ति–सम्बन्धों के अनुरूप

सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक विमर्शों को गढ़ता है। ये आधुनिक विमर्श विज्ञान को एक तरह से उपकरणात्मक तार्किकता या इन्स्ट्रूमेंटल रेशनलिटी के रूप में बरतते हैं।

हेबरमास की उपरोक्त पुस्तक विज्ञान की तार्किकता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखती है। यह बताती है कि कैसे विज्ञान एवं विज्ञान जनित तार्किकता तीन सौ साल के यूरोपीय इतिहास में एक तरफ़ लोकतन्त्र का गठन करते हुए प्रतीत होती है और दूसरी तरफ़ यही वैज्ञानिक तार्किकता पूँजीवाद एवं पूँजीवाद की संरचनात्मक सोच का वाहक बन जाती है। इस तार्किकता की द्वन्द्वात्मक व्याख्या की जाये तो पता चलता है कि कैसे पश्चिम के सार्वजनिक जीवन में समाज में रहने वाले वंचित समुदाय के लोग दरअसल आधुनिकतावादी लोकतन्त्र के दायरे से भी बाहर रह जाते हैं।

क्या यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि वैज्ञानिक तार्किकता और उपकरणात्मक तार्किकता को अलग–अलग किया जा सकता है? क्या यह तार्किकता वंचितों के समाजशास्त्र को भी प्राप्त होती है? क्या हम कह सकते हैं कि वह विज्ञान की प्रकृति ही है, जो तकनीकी ज्ञान के माध्यम से पूँजीवाद का निर्माण करती है? क्या विज्ञान को पूँजीवाद से पूरी तरह अलगाया जा सकता है?

ऐसे ही कुछ प्रश्न उठाये जाते रहे हैं कि आज के समय में विज्ञान में हो रहे शोध किस हद तक पूँजीवादी विचारधारा के द्वारा तय किये जाते हैं और क्या इससे विज्ञान की मूल प्रकृति में परिवर्तन होता है या विज्ञान मूलतः एक तरह का ज्ञानात्मक प्रबोधन है। मगर यह मान्यता भी हमारे सामने है कि तकनीकी जनित विज्ञान निश्चित रूप से पूँजीवादी संरचनात्मक व्यवस्था से बाहर नहीं है। अतः दोनों को हमें अलग–अलग तरीक़े से समझना चाहिए।

लेख के इस भाग में हमने अपने अध्ययन के उपरान्त पाया कि विज्ञान और पश्चिम में जन्मा विज्ञान नितान्त रूप से एक तरह के वर्चस्ववाद की रचना करता है। अतः यह वर्चस्व मुक्तिवाहक होने की जगह, एक अलग तरह की उपकरणात्मक तार्किकता को जन्म देता है और वह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का वाहक है। इसके लिए यह लोकतन्त्र की व्यूह रचना के माध्यम से अपनी कार्यविधि को आगे बढ़ाता है। यहाँ पर यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि विज्ञान के इतिहास की जाँच क्या पश्चिमी या पूर्वी सभ्यताओं के बरक्स की जा सकती है, विशेष रूप से जब हम ग्रीक दर्शन व ग्रीक वैज्ञानिकों द्वारा विकसित वैज्ञानिक अवधारणाओं की चर्चा करते हैं। औपनिवेशिक काल में विज्ञान की भूमिका को समझे जाने का प्रश्न भी खड़ा होता है। विज्ञान की

औपनिवेशिक भूमिका के परिणामों के बारे में व्यापक चर्चा विज्ञान के उन दर्शनशास्त्रियों और इतिहासकारों ने की है, जो सामाजिक ज्ञानमीमांसा की बात करते हैं।

भारत में पिछले दो सौ सालों से औपनिवेशिक व उत्तर औपनिवेशिक समय में विज्ञान एक तरह का उत्पादन–क्षेत्र बन गया और विज्ञान, ज्ञानमीमांसा एवं उत्पादन प्रक्रिया कैसे एक–दूसरे के परिवाहक बन गये। इन सवालों पर इस परिचर्चा में ही ध्रुव रैना एवं अन्य विज्ञान के इतिहासकारों व दार्शनिकों ने बात की है। पर इन सवालों के बारे में शिक्षाशास्त्रियों में मत–भिन्नता है। इस व्यापक प्रश्न को हम यहीं पर छोड़ रहे हैं, क्योंकि यह इस लेख का मूलभूत मक़सद फिलहाल नहीं है।

निष्कर्ष

डेमोक्रिटस, अरस्तू एवं देकार्त के चिन्तन की परम्परा को एक तरह के प्राथमिक विमर्श के रूप में देखा जा सकता है। यह विमर्श तार्किक प्रत्यक्षवाद या लॉजिकल पॉजिटिविज़्म के रूप में एक तरह की व्यवहारवादी, ग़ैर–लोकतान्त्रिक व वर्चस्ववादी व्यवस्था में तब्दील होता है। यहाँ पर विज्ञान अपनी मूल प्रवृत्ति से भटकते हुए एक तरह की साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्था में तब्दील होता है।

वहीं दूसरी तरफ़ यदि फ्रांसिस बेकन, लॉक एवं ह्यूम के विमर्श को आगे बढ़ायें तो हम पाते हैं कि एक तरह की वैज्ञानिक तार्किकता को आगे बढ़ाते हुए भी ये एक तरह के संशयवादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हैं। यही संशयात्मकता आगे चल कर भारत जैसे औपनिवेशिक सन्दर्भ में जन विज्ञान आन्दोलन को जन्म देती है। यह आन्दोलन प्रत्यक्षवाद की विरासत और पूँजीवादी लोकतन्त्र का विरोध करते हुए संस्कृति और विज्ञान के आपसी रिश्तों को परिभाषित करते हुए प्रतीत होते हैं।

जैसा कि हमने शुरू में कहा था यह लेख इस परिचर्चा के सन्दर्भ में कुछ प्रश्नों को उठाता है। इन प्रश्नों के कई आयाम हैं, जिन्हें यहाँ पूरी तरह से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। फिर भी इस परिचर्चा से भविष्य के अध्ययन के लिए कुछ राहें निकलती हैं, जिसके ज़रिये हम विज्ञान एवं मुक्ति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को समझने की शुरुआत कर सकते हैं।

ऐसा ही एक सवाल यह रहा है कि क्या विज्ञान कभी भी मूल्य–निरपेक्ष रहा है या विज्ञान का मूल्य–निरपेक्ष होना एक तरह का भ्रम है? आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा का एक बड़ा दावा है कि उसके विचारों को कहीं भी निरपेक्ष व सार्वभौमिक तरीक़े से प्राप्त किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, वैज्ञानिक तार्किकता के मूल्य–निरपेक्ष होने

का दावा किया जाता है। इसी दावे की ओट से यह बात भी निकलती है कि यदि विज्ञान मूल्य–निरपेक्ष है तो आधुनिकता भी मूल्य–निरपेक्ष है। विज्ञान को मूल्य–निरपेक्ष मान लेने से आधुनिकता एवं वैज्ञानिक तार्किकता की समझ एक तरह के व्यवहारवाद को भी जन्म देती है, जबकि हमने देखा है कि विज्ञान के मूल्य–निरपेक्ष होने का दावा पूँजीवाद की व्याख्या के बाद सन्देहास्पद हो जाता है। यह भी एक व्यापक विमर्श का सवाल है, जिसका यथोचित उत्तर देना इस लेख के सीमित दायरे से बाहर है।

हम लेख के पिछले हिस्से में विज्ञान, साम्राज्यवाद और मुक्ति के सवालों के सम्बन्ध में नव–मार्क्सवाद के प्रमुख चिन्तकों हर्बर्ट मार्क्यूज़ और अडूर्नू की बात कर चुके हैं। इन विचारकों ने बताया कि वर्चस्वकारी पूँजीवादी व साम्राज्यवादी व्यवस्था ने कैसे विज्ञान को उपकरणात्मक तार्किकता में बदल दिया है। यह तार्किकता पूँजीवाद की शक्ति–संरचनाओं व राजनीतिक व्यूह–रचना के माध्यम से विज्ञान की मुक्तिकामी सम्भावना को धूमिल करती हुई प्रतीत होती है।

साथ ही इन चिन्तकों ने शिक्षा और शिक्षा जनित मूल्यों के निर्माण को दो हिस्सों में विभाजित किया है। पहला हिस्सा, अरस्तू से प्रारम्भ हो कर कांट और न्यूटन में अभिव्यक्त होते हुए एक तरह के विज्ञानवाद एवं लोकतान्त्रिक पूँजीवाद में तब्दील होता है और ऐसा करते हुए मूल्य–निरपेक्षता के वितंडा का निर्माण करता है। वहीं दूसरा हिस्सा, आत्म–प्रश्नेयता या रिफ़्लेक्सिविटी के ज़रिये खुद पर सवाल उठाते हुए समाज व व्यक्ति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को आगे बढ़ाते हुए उपकरणात्मक तार्किकता एवं मूल्य–निरपेक्षता की आलोचना प्रस्तुत करता है। यह विज्ञान को विज्ञानवाद एवं यान्त्रिक विज्ञानवाद से अलग करते हुए सन्देह का लाभ भी देता है।

अतः हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक शिक्षा और वैज्ञानिक शिक्षा की कार्यपद्धति जब विज्ञानवाद का शिकार हो जाती है, तो वह समाज से अलग–थलग होते हुए एक तरह से शास्त्रीय पाण्डित्यवाद का गठन करती है और इसी वजह से विज्ञान–शिक्षा समाज से अलग–थलग दिखायी पड़ती है। इसी बात का प्रतिफलन एक शिक्षक की कक्षा में होता है, जहाँ विद्यार्थी विज्ञान से या तो जुड़ नहीं पाते या फिर उपकरणात्मक रूप से जुड़ते हुए विज्ञान के मुक्तिकामी दर्शन से अनजान बने रहते हैं।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि शिक्षा–दर्शन की एक भूमिका यह भी है कि वैज्ञानिक शिक्षा एवं मानविकी, समाज में व्याप्त जटिलताओं को कैसे समझें ताकि विज्ञान किसी एक प्रयोगशाला या प्रयोगशालाओं में सीमित जीवन या विज्ञानकर्मियों तक सीमित न रह जाये, बल्कि व्यापक रूप से समाज की ढाँचागत समस्याओं व

विषमताओं को समझने के लिए उपलब्ध रहे। इसीलिए इस लेख में हमने विज्ञान और आधुनिकता की ऐतिहासिक एवं सामाजिक बहसों की तरफ़ जाने का प्रयास किया है। यह प्रयास भारतीय सन्दर्भों में मुख्यतः ध्रुव रैना की पुस्तक *इमेजेस एण्ड कॉन्टेक्सट : दि हिस्ट्रोग्रॉफी ऑफ़ साइंस एण्ड मॉर्डनिटी इन इण्डिया* को महत्वपूर्ण मानता है।

ध्रुव रैना के द्वारा प्रस्तावित सामाजिक ज्ञानमीमांसा यान्त्रिक विज्ञानवाद की आलोचना करती है, पर इसके साथ एक दिक़्क़त भी है। वह यह है कि पुस्तक विज्ञान एवं विज्ञानजनित मुक्ति के फ़लक को सापेक्षतावाद के सिद्धान्त की तरफ़ भी धकेलती है। यह एक तरह का उत्तर–संरचनावादी दृष्टिकोण है जिसमें सवाल तो हैं, पर जवाबों की तरफ़ महज़ इशारे हैं। इस पुस्तक की मान्यताओं व निष्कर्षों की आलोचना स्टीव फुलर और भारतीय विद्वान मीरा नन्दा के चिन्तन के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।

अन्त में विज्ञान एवं वैज्ञानिक शिक्षा तथा आधुनिकता के द्वन्द्वात्मक विमर्श को समझते हुए हमें यह पता करना होगा कि विज्ञान की शिक्षा कैसे समानता एवं न्याय पर आधारित लोकतन्त्र को विकसित कर सकती है। कक्षा का जीवन भी इस लोकतन्त्र का हिस्सा हो सकता है, ताकि विज्ञान की शिक्षा समाज के बड़े परिदृश्य से जुड़ सके और भारतीय संविधान की मूल संरचना का वाहक बन सके। इसलिए विज्ञानकर्मियों के सामाजिक सरोकारों को पुनःव्याख्यायित करने की ज़रूरत है, जो कि जान पड़ता है कि इस संगोष्ठी के कुछ प्रमुख उद्देश्यों में से एक है।

सन्दर्भ सूची :

1. देकार्त, रेने (1998)। *डिस्कोर्स ऑन मेथड*। हैकेट पब्लिशिंग कम्पनी, इंक।
2. अरस्तू (2012)। *दि ऑर्गनान*। क्रिएट स्पेस इन्डिपेंडेंट पब्लिशिंग प्लेटफॉर्म।
3. हेबरमास, जर्गन (1991)। *दि स्ट्रक्चरल ट्रान्सफॉर्मेशन ऑफ़ दि पब्लिक स्फेयर*। एम.आई.टी. प्रेस।
4. मार्क्यूज़ हर्बर्ट (1991)। *वन डाइमेंशनल मैन*। बैकन प्रेस।
5. रैना ध्रुव (2004)। *इमेजेस एण्ड कॉन्टेक्सट : दि हिस्ट्रोग्रॉफी ऑफ़ साइंस एण्ड मॉर्डनिटी इन इण्डिया।* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. रैना, राजेश्वरी (2015)। *साइंस, टेक्नोलोजी एण्ड डेवलपमेंट इन इण्डिया : एनकाउंटरिंग वैल्यूज़*।